International Journal of Enhanced Research in Educational Development (IJERED)
ISSN: 2320-8708, Vol. 9 Issue 4, July-August, 2021, Impact Factor: 7.326

उपनिषद् हिन्दू धर्म की अनुभूतियों के कोष- रामधारी सिंह 'दिनकर'

डॉ. पवन कुमार पाण्डे

सहायक आचार्य, शासकीय महाविद्यालय, भैंसा, जिला निर्मल, तेलंगाना

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के साहित्य पर यदि एक विहंगम दृष्टि डाली जाए तो हम यह पाते हैं कि जो प्रमुख साहित्यकार हुए, उनमें रामधारी सिंह 'दिनकर' अपना विशेष स्थान रखते हैं। छायावाद युग के पश्चात् साहित्याकाश को अपनी प्रभा से आलोकित करने वाले रामधारी सिंह 'दिनकर' अपने किसी भी समकालीन साहित्यकार से उन्नीस नहीं। ओजमयी भाषा के लिए प्रसिद्ध 'दिनकर' ने अपने सृजन से हिन्दी साहित्य के गद्य एवं पद्य को समृद्ध किया। अपने सृजन काल में उन्होंने कई कालजयी रचनाएँ साहित्य को दीं। कई ज्वलंत समस्याओं को उठाया। युद्ध की अनिवार्यता को भी स्पष्ट किया। पलायन एवं तटस्थता के स्थान पर हर स्थिति से दो-दो हाथ करने की बात उन्होंने कही। उनकी यह पंक्ति किसी सूक्ति से कम नहीं-

समर शेष है नहीं पाप का, भागी केवल व्याध।
जो तटस्थ है, समय लिखेगा, उनका भी अपराध।।

प्रस्तुत आलेख में भारतीय साहित्य में मील का पत्थर बन चुकी 'संस्कृति के चार अध्याय ' नामक कालचयी कृति में रामधारी सिंह 'दिनकर' द्वारा उपनिषदों की जो व्याख्या की गई उस पर चर्चा की गई है। उपनिषद्, वैदिक एवं जैन-बौध्य युग के मध्य की कड़ी हैं। जो भी बीज अथवा दाय के रूप वेदों से उपनिषदों ने ग्रहण किया, जो मौलिक उद्भावनाएँ उपनिषदों की अपनी हैं, जो जैन-बौद्ध दर्शन को दिया, पर चर्चा इस आलेख में की गई है।

उपनिषदों को जानने से पूर्व यह निश्चित करना आवश्यक होगा कि उपनिषदों की संख्या कितनी है। इस संदर्भ को स्पष्ट कर वे कहते हैं "वैदिक साहित्य में, वेदांगों के बाद, उपनिषदों का स्थान है। .....ऐतिहासिक दृष्टि से वे ही उपनिषद् महत्वपूर्ण समझे जाते हैं, जिनकी रचना बुद्धदेव के आविर्भाव के पहले हो चुकी थी।.....शंकराचार्य ने जिन उपनिषदों की टीका लिखी है, वे सबसे प्रमुख हैं। 1)ईश 2)केन 3) कठ 4)प्रश्न 5)मुण्डक 6) माण्डूक्य 7) तैत्तरीय 8) ऐतरेय 9) छान्दोग्य 10) बृहदारण्यक और 11)नृसिंह पूर्वतापनी। इनके सिवा, शंकराचार्य ने पाँच-छह अन्य उपनिषदों से भी

उद्धरण दिए हैं। श्री रामानुजाचार्य ने भी.....प्रायः इन्हीं उपनिषदों का हवाला दिया है"[1]। अर्थात् एक निश्चित समयावधि तक ही रचित उपनिषद्, उपनिषद् माने जाने के योग्य हैं। तथा शंकराचार्य एवं रामानुजार्य ने जिन उपनिषदों की चर्चा की वे ही प्रामाणिक है।

उपनिषद् जिसका शाब्दिक अर्थ है पास बैठना(उप-निकट, निषद्-बैठना) के उद्भव एवं विकास पर चर्चा करते हुए वे आगे बताते हैं "वेदों में ज्ञान-मार्ग की जो स्फुट बातें जहाँ-तहाँ विकीर्ण थीं, उन्हीं को लेकर उपनिषदों का विकास हुआ। फिर भी, वेदों के प्रभुत्व के समय ज्ञान और कर्म के बीच झगड़ा नहीं बढ़ा, क्योंकि उपनिषद् वेदों के प्रमाण पर चलते हैं। और यह भी कहते हैं कि यज्ञ से सुख और स्वर्ग जरूर मिलते हैं, किन्तु दोनों नाशवान् हैं। अतएव मनुष्य को सच्चे -सुख के लिए कुछ और करना चाहिए। उपनिषदों ने सच्चे सुख की जो कल्पना की, वह मोक्ष का सुख था, वह जीवन और मृत्यु से छुटकारा पाने का सुख था। इस सुख के सामने स्वर्ग –सुख को उपनिषदों ने हीन बताया और इसी प्रकार, लोग स्वर्ग के सामने लौकिक जीवन को भी हीन मानने लगे। अतएव भारतीय दर्शन में निराशावाद की एक हल्की परम्परा का आरम्भ उपनिषदों में ही होता है और यही परम्परा उपनिषदों के पूर्ण विकास के युग में आकर पुष्ट और जैन तथ बौद्ध दर्शनों में जाकर प्रचण्ड हो उठी"[2]। यानी उपनिषदों का आधार वेद ही हैं अथवा उपनिषद् रूपी वृक्ष के बीज वेदों में ही व्याप्त है। किन्तु उपनिषद्कालीन ऋषियों ने कुछ मौलिक उद्भावनाएँ भी की। उपनिषदों के अनुसार सुख और स्वर्ग मानव जीवन का लक्ष्य नहीं है, दोनों ही नश्वर है। सही उद्देश्य या सच्चा सुख तो मोक्ष की प्राप्ति है। मोक्ष कुछ और नहीं नश्वर संसार से मुक्ति है अथवा जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति है। इसी विचार की अनुगूँज भक्तिकालीन समाजसुधारक क्रांतिकारी कवि कबीर के उपदेशों में भी सुनाई देती है-

"दीपक दिया तेल भरि, बाती दई अघट्ट।
पूरा किया बिसाहुँणा, बहुरि न आवौ हट्ट "।।

महात्मा कबीर यहाँ कहते हैं कि गुरु ने ज्ञान रूपी दीपक दिया जो अब बूझने वाला नहीं। परिणामस्वरूप मैंने संसार से किसी भी प्रकार का रागद्वेष नहीं रखा, अथवा जो भी थे वह समाप्त हो गए। अतः मुझे पुनः इस संसार में आने की आवश्यकता नहीं।

उपनिषद्कालीन ऋषियों का यह दृढ़ विश्वास था कि "वेदों ने यज्ञ के जो रास्ते बताए, उनसे मनुष्य को केवल नश्वर सुख ही प्राप्त हो सकते हैं। स्वर्ग के विषय में भी उपनिषद् यह मानते हैं कि स्वर्ग-सुख का भोग जीव तभी कर सकता है, जब तक उसका पुण्य शेष हो। पुण्य समाप्त होते ही, उसे फिर जन्म लेना पड़ता है और फिर उसकी मृत्यु होती है, जो दुख है"[3]। यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञ के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले सुख की एक निश्चित समय सीमा है, स्वर्ग भी पुण्य करने पर ही मिलता या मिल सकता है। पुण्य के अनुपात से ही स्वर्ग-सुख मिलता है, वह भी स्थायी नहीं। इसके विपरीत मोक्ष उस स्थायी अवस्था मे ले जाता है, जिसमें जाने के पश्चात् जन्म-मरण का चक्र समाप्त

हो जाता है। मोक्ष की इस अद्वैतवादी अवधारणा को कबीर की इन पंक्तियों के माध्यम से समझा जा सकता है।

"जल में कुम्भ है, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी
फूटा कुम्भ, जल जल ही समाना, यह तथ्य कह्यो ज्ञानी "

उपनिषदों के इस सिद्धांत को आगे चलकर जैन एवं बौद्ध अनुयायियों ने भी अपनाया। इस सिद्धांत के साथ नकारात्मकता का भाव जुड़ा हुआ था क्योंकि इसे "निरूपित करने में बार-बार जीवन की दुःख पूर्णता की चर्चा की गई, इसलिए समाज में एक प्रकार का निराशावाद फैलने लगा। और लोग जीवन में उत्साह को खोने लगे, जो वेद-कालीन भारतीयों की विशेषता थी।.....वैदिक सभ्यता कर्मठ मनुष्य की सभ्यता थी जो सोचता कम, काम अधिक करता था, जिसे नरक की चिन्ता नहीं, हमेशा स्वर्ग का ही लोभ था, जो जीवन को दुखों का आगार नहीं, सुख और आनंद का साधन मानता था। मगर, उपनिषदों ने दिमाग के अनेक दरवाजे खोल दिए और आदमी अनेक सवालों के चक्कर में पड़ गया। यह सृष्टि क्या है ? जीव सान्त है अनन्त ? जन्म के पहले क्या था ? मरने के बाद क्या होगा?.....इन सवालों की हल्की-पतली झाँकी वेदों में भी प्रच्छन्न थी, लेकिन, वेद-कालीन मनुष्य इन प्रश्नों के चंगुल में नहीं फंसा था "[4]। अर्थात् संसार को बार-बार दुख का पर्याय बताया जाने लगा, जो तत्कालीन समाज में निराशा का भाव भरने लगा। साथ ही कर्मठता का स्थान चिन्तन अथवा चिंता ने ले लिया। आशावादी सकारात्मकता से पूर्ण वेदकालीन मानव की सोच इस युग में कुछ हद तक निराशावादी नकारात्मक होने लगी। वैदिक मनुष्य के लिए जीवन आनंद-उत्साह का पर्याय था। सृष्टि या जीवन से इतर वह कुछ सोचता था तो स्वर्ग के बारे में ही सोचता था। जीवन के अंत या उसकी अनंतता से उसे कुछ भी लेना नहीं था।

इसी भाव को और भी अच्छे से उजागर कर दिनकर बताते हैं "वैदिक साहित्य(संहिता भाग) उद्दाम आशावाद से ओत-प्रोत है और निराशा की उसमें कहीं गन्ध भी नहीं मिलती। उनका सबसे प्रधान स्वर यह है कि जिन्दगी आनन्द से जीने के योग्य है और देवताओं को प्रसन्न कर हम मरकर भी ऐसा लोक प्राप्त कर सकते हैं जहाँ आनन्द ही आनन्द होगा। वेद में इस लोक का वर्णन है, इस जीवन के बाद मिलने वाले स्वर्ग का वर्णन है, किन्तु, वैदिक ऋषि नरक के बारे में अधिक नहीं जानते हैं। वे ऐसी बात नहीं कहते, जिससे मनुष्य को भय़ हो, उसका उत्साह दबे अथवा जीवन मे उसका आनन्द कम हो जाए"[5]। अर्थात् जीवन कुछ और नहीं आनन्द केवल आनन्द है, इसमें निरुत्साह, निराशावाद के लिए कोई स्थान नहीं।

इस पूर्ण सकारात्मक, आशावादी, उत्साही दृष्टिकोण के साथ ही वैदिक ऋषियों ने "जब-जब यह संकेत भी किया था कि स्वर्ग से ऊपर भी कोई स्थिति हो सकती है। इसके सिवा, निरी सांसारिकता से ऊपर उठकर उन्होंने यह भी विचार किया था कि यह सृष्टि कहाँ से निकली है, तथा इसका मालिक कौन है। ऋषियों में से कुछ लोगों को यज्ञ अयथेष्ट मालूम होने लगे, तब उनका ध्यान वेद के उन अंशों पर गया, जिनमें स्वर्ग से ऊपर की स्थिति को ओर इशारा किया गया था, जिनमें यह प्रश्न उठाया गया

था कि सृष्टि की रचना कैसे हुई और इसका अध्यक्ष कौन है। इसी चिन्ता से उपनिषदों का जन्म हुआ असल में, उपनिषद् वेद के उन स्थलों की व्याख्या है जिनमें यज्ञों से अलग हटकर ऋषियों ने जीवन के गहन तत्त्वों पर विचार किया"[6]। अर्थात् स्वर्ग से ऊपर भी किसी अन्य लोक की कल्पना वैदिक युग में ऋषियों द्वारा की गई। सृष्टिकर्ता के गूढ़ रहस्य पर भी प्रश्न उनके मन में उठने लगे। आगे चलकर उपनिषदों में इस पर विस्तार से चर्चा होने लगी। यहाँ यह सिद्ध हो जाता है कि वैदिक कालीन लोग मात्र भोगों तक ही सीमित नहीं थे।

इसे और भी विस्तृत रूप से वे इस तरह दर्शाते हैं "वैदिक ऋषि जहाँ यह पूछकर शान्त हो जाते थे कि "यह सृष्टि किसने बनाई?" और "कौन देवता है जिसकी हम उपासना करें?" वहाँ उपनिषदों के ऋषियों ने सृष्टि बनाने वाले के सम्बन्ध में कुछ सिद्धांतों का निश्चय कर दिया और उस "सत्" का भी पता पा लिया जो पूजा का, वस्तुतः अधिकारी है। वैदिक धर्म का पुराना आख्यान वेद और नवीन उपनिषद् है"[7]। यानी वैदिक काल में जो स्वर दबे हुए या अनकहे रह गए वे ही स्वर उपनिषद् काल में पूरी शक्ति के साथ प्रस्फुटित हुए। उन पर विस्तार पूर्वक चर्चा होने लगी। तथा निष्कर्ष भी निर्धारित किए जाने लगे।

वैदिक युग के अदम्य उत्साह को आधार बनाकर छायावाद युग में महाकवि जयशंकर प्रसाद कहते हैं-

इस पथ का उद्देश्य नहीं है, श्रान्त भवन में टिक रहना,
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर, जिसके आगे राह नहीं।

कुछ ऐसे ही स्वर महाप्राण सूर्यकांत त्रिपाठी निराला के मुख से भी उच्चरित हुए हैं-

झूल चुकी है खाल, ढाल की तरह बनी थी,
पुनः सवेरा, एक और फेरा इस जग का।

सृष्टि के निर्माण का आधार उपनिषदों के अनुसार पंच तत्त्व अर्थात्, क्षिति, जल, पावक, गगन और वायु है। और "इन पाँचों तत्त्वों का स्वामी महत्तत्व है, जिसमें ये पाँचों तत्त्व विद्यमान रहते हैं। काल पाकर यह महत्तत्त्व..... फैलने लगता है। महत्तत्त्व के इसी फैलाव को हम सृष्टि, जन्म, रचना और विकास कहते हैं। फिर एक समय आता है जब यह फैलाव सिमटने लगता है और सिमट कर वह महत्तत्त्व में केन्द्रित हो जाता है। सिमटने की प्रक्रिया को सृष्टि का विस्तार होना या प्रलय कहते हैं "[8]। इसके साथ ही निर्माण और विलीन होने की प्रक्रिया को मकड़े के जाल के माध्यम से उपनिषद दर्शाते हैं "मकड़े के भीतर से जाली निकलकर चारों और छा जाती है, यही सृष्टि का बनना है। फिर वह जाली सिमटकर मकड़े के भीतर चली जाती है, यानी सृष्टि का विनाश होना है।.....यह मकड़ा ब्रह्म ही है और उस के भीतर सृष्टि प्रकट होती है। दूसरा यह कि मकड़ा, असल में प्रकृति के मूल तत्व अथवा महत्तत्त्व की उपमा है। ब्रह्म सृष्टि की रचना नहीं करता। सृष्टि इस महत्तत्त्व में से निकलती है और उसी में वापस चली जाती है। इन्हीं दो प्रकार के उत्तरों से आगे चलकर भारत में द्वैतवाद और

अद्वैतवाद के सिद्धांत निकले। जिन्होंने यह माना कि महत्तत्व तो जड़ है, उससे चेतन सृष्टि कैसे निकल सकती है, इसलिए सृष्टि की रचना ब्रह्म ने की, वे द्वैतवादी हुए "[9]। इसके विपरीत अद्वैतवाद के अनुसार "सृष्टि प्रकृति के मूल तत्त्वों से(महत्तत्त्व) से निकलती है और वह उसी में समा जाती है।.....चेतन केवल ब्रह्म है, किन्तु, उस चेतना से व्याप्त रहने के कारण हमें जड़ प्रकृति भी चेतन दिखाई देती है"[10]। इस तरह से ब्रह्म के अगम्य, अगोचर स्वरूप पर विपरीत दृष्टिकोण से प्रकाश डालना उपनिषदों की महती विशेषता है।

इसे और भी व्यापकता एवं गहराई से इस प्रकार समझा जा सकता है "उपनिषद् कभी तो ब्रह्म को निर्विकार कहते हैं और कभी यह मानते हैं कि उसी ने सृष्टि की रचना की,.....कभ यह कहते हैं कि परमात्मा सर्वशक्तिमान और आत्मा सीमित है, परमात्मा आनन्दस्वरूप और आत्मा दुःख से पीड़ित है। आत्मा और परमात्मा एक है, आत्मा और परमात्मा अलग-अलग है तथा आत्मा और परमात्मा अलग भी है और एकाकार भी, ये तीन तरह के मत है और तीनों का समर्थन उपनिषदों में खोजा जा सकता है। आगे चलकर इन्हीं तीन प्रकार की बातों से तीन मतवाद चले, जिनमें से अद्वैतवाद के प्रबल समर्थक शंकराचार्य, द्वैतवाद के समर्थक मध्वाचार्य, और विशिष्टाद्वैत के रामानुजाचार्य हुए"[11]। अर्थात् उस परमात्मा की व्याख्ता किसी एक सिद्धांत के माध्यम से नहीं होती। या उपनिषद कालीन ऋषि पूर्णतः सहिष्णु स्वभाव के थे। किसी एक ही सिद्धांत को लेकर उनमें कट्टरवादिता नहीं थी। वे शायद "ये ही सत्य है :" के सिद्धांत के स्थान पर "यह भी सत्य है " के सिद्धांत को मानने वाले थे।

इसी क्रम में दिनकर आगे बताते हैं "उपनिषदों में विरोधी बातें मिलती हैं, उनका भी कारण यही है कि ऋषि सहज ज्ञान के बल पर जब जो कुछ देखते, उसी को लिख देते थे। उपनिषदों के हम हिन्दू-धर्म का पद्धति-बद्ध दर्शन नहीं मान सकते। वे हिन्दू धर्म की अनुभूतियों के कोष है, जिनमें ऋषियों की अनुभूतियाँ ठीक उसी भाव में दर्ज मिलती हैं, जिस रूप में वे उन्हें प्राप्त हुई थी। वस्तुतः उपनिषदों को आधा दर्शन और आधा काव्य कहना चाहिए "[12] यानी उपनिषद किसी दार्शनिक भाव को सिद्ध करने के लिए नहीं लिखे गए। सहज ज्ञान जिसे अंग्रेजी में Intuition कहा जाता है, को ही आधार मानकर चलते थे।

इसे और भी खुलकर स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि "उपनिषदों का उद्देश्य दर्शन की रचना नहीं, बल्कि, ...समाज का ध्यान धर्म के सूक्ष्म तत्त्वों की ओर ले जाना था, जिस समाज के लोग.....पशु हिंसा और यज्ञवाद को अपना परम धर्म मान रहे थे, और पृथ्वी से लेकर स्वर्ग तक सर्वत्र भोगों के लिए बेचैन थे। इस समाज के सामने, उपनिषदों के द्वारा जो आदर्श उपस्थित किया जा रहा था, वह यह था कि जीवन का सच्चा सुख भोग में नहीं त्याग में है। सारी सृष्टि के ब्रह्ममय होने से किसी भी मनुष्य को यह अधिकार नहीं है कि वह किसी अन्य मनुष्य को दुःख दे या किसी भी जीव की हिंसा करे"[13]। गौरतलब है कि उपनिषदों ने तत्कालीन समाज में भोग के स्थान पर त्याग

की प्रवृत्ति की ओर अग्रसर किया तथा सृष्टि के कण-कण में ब्रह्म होने के भाव पर जोर दिया। साथ ही यह बताया कि हर प्राणी उसी ब्रह्म का अंश है, अतः हमें किसी को भी दुःख नहीं देना चाहिए।

साथ ही "उपनिषदों ने समाज में आत्मविद्या और तपश्चर्या की जो परिपाटी चलाई उससे प्रेरित होकर लोग अधिक संख्या में वैरागी होन लगे।.....इन ऋषियों की विशेषता यह थी कि यज्ञों में उनका विश्वास नहीं था। कर्मकाण्ड को वे नहीं मानते थे और ऐहिक सुखो को वे मनुष्य का हीन उद्देश्य बतलाते थे। उनका लक्ष्य मनुष्य के भीतर वैराग्य को जगाकर उसे ईश्वर की ओर ले जाना था "[14]। मनुष्य को सांसारिकता की जगह ईश्वरोंन्मुख करना उपनिषदों ने अपना मुख्य उद्देश्य बना लिया। उनकी दृष्टि में सांसारिक या लौकिक सुखों में कोई सार नहीं।

"मुण्डकोपनिषद के आरंभ में ही परा और अपरा विद्याओं के बीच विभाजन किया गया है और साफ-साफ यह घोषणा की गई है कि अपरा विद्या वह है, जिससे मनुष्य लोक और परलोक में भोग प्राप्त करने की योग्यता अर्जित करता है.....इनके विपरीत, परा विद्या उस आत्मविद्या को कहते है, जिससे मनुष्य जन्म और मरण के बन्धन से छूटकर मोक्ष लाभ करता है। वही परा-विद्या, ब्रह्मविद्या या आत्मविद्या उपनिषदों का प्रतिपाद्य है, जिसे उपनिषदों ने वेद से श्रेष्ठ बताया है। कठोपनिषद में भी विद्या और अविद्या के बीच विभाजन करते हुए ऋषि ने वेद की गिनती अविद्याओं में की है, क्योंकि वेद तो यज्ञ सिखाते हैं उससे आत्म-विद्या को प्राप्त करने में सहायता नहीं मिलती। स्वयं गीता में भगवान ने अर्जुन से कहा है कि 'वेद तो तीनों गुणों में रत है, हे अर्जुन! तू तीनों गुणों से ऊपर उठ '"[15]। यहाँ विद्या को भी उपनिषद दो भागों में परा एवँ अपरा में विभक्त कर देते हैं तथा परा विद्या को श्रेष्ठ ठहराते हैं। इसे ही वे आत्मविद्या, ब्रह्मविद्या कहते हैं। साथ ही वेदों को भी अविद्या की श्रेणी में रखते हैं। इतना ही नहीं उपनिषद तीनों गुणों सत, रज, तम में किसी एक के प्रति भी आग्रह रखने से मना कर देते हैं।

संदर्भ सूची

1. पृ. 88
2. पृ. 92
3. पृ. 93
4. पृ. 98-99
5. पृ. 91
6. पृ. 93
7. पृ. 88
8. पृ. 93
9. पृ. 93-94

10. पृ. 94
11. पृ. 95
12. पृ. 96
13. पृ. 96
14. प. 102
15. पृ. 104

संस्कृति के चार अध्याय

तृतीय संस्करण नई दिल्ली 26 जनवरी , 1956